Chapter-7

:: सप्तम अध्याय ::

:: उपसंहार ::

:: सप्तम् अध्याय ::

:: उपसंहार ::

उपन्यास सम्राट मुंशी प्रेमचन्द हिन्दी साहित्य के एक कालजयी साहित्यकार हैं । मूल नाम धनपतराय । चाचा-ताऊ नवाब कहते थे । अतः नवाबराय नाम से ही सर्वप्रथम उर्दू में लिखने की शुरूआत की । पर देखा जाय तो वे न धनपत थे और न नवाब । ताजिन्दगी आर्थिक-संघर्ष करते रहे और नवाबों-सामन्तों के खिलाफ लिखते रहे , पर हाँ दिल से वे दोनों थे — अमीर भी और नवाब भी ।

उनका हृदय प्रेम से लबालब था । पर यह प्रेम मानवता के प्रति था , न्याय के प्रति था , शोषितों के प्रति था , दलितों के प्रति था , साहित्य के प्रति था , देश के प्रति था । आजीवन वे

शोषण के खिलाफ लड़ते रहे । यह शोषण चार प्रकार का था — गरीब मजदूर और किसानों का शोषण , नारियों का शोषण , दलितों का शोषण और साम्राज्यवादी ताकतों द्वारा समूचे देश का शोषण । इस चतुर्मुखी शोषण के खिलाफ वह आदमी अपनी कलम लेकर खड़ा हो गया । इसीलिए तो अमृतराय उनको "कलम का सिपाही " कहते हैं ।

जितना काम प्रेमचन्द लिखने-पढ़ने का करते थे , जिस प्रकार के वर्ग के लिए करते थे , जिन सिद्धान्तों के साथ करते थे ; उतना काम अन्यत्र करते या लेखन में ही पर लक्ष्मीपरस्त काम करते तो उनके यहाँ रुपयों की टकसाल चल सकती थी । पर प्रेमचन्द लक्ष्मीपुत्र नहीं, सरस्वतीपुत्र थे । अतः जिन्दगीभर कलम-घिसाई करते रहे , मजदूरी करते रहे । लिहाजा उनका दूसरा जीवनीकार — मदनगोपाल — उनको "कलम का मजदूर " विशेषण से नवाजता है ।

प्रेमचन्द समाज और साहित्य के एक जागरूक प्रहरी हैं । आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जी कहा करते थे कि यदि कोई उत्तर-प्रदेश के ग्रामीण जीवन का जायजा लेना चाहता है , तो प्रेमचन्द से अच्छा परिचायक दूसरा कोई न मिलेगा । यही बात तत्कालीन समसामयिक इतिहास के संदर्भ में भी कह सकते हैं कि प्रेमचन्द के उपन्यासों तथा कहानियों के जरिए हम तत्कालीन सामाजिक-राजनीतिक-धार्मिक आंदोलनों तथा गतिविधियों के संदर्भों और परिप्रेक्ष्यों को भलीभांति जान सकते हैं । इतना ही नहीं वैश्विक गतिविधियों — राजनीतिक और साहित्यिक — का व्यापक फलक भी सर्वप्रथम यहां खुलता है ।

सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला का प्रेमचन्द के लिए कथन था — " आँखें कोनों के पास आयें तो आँखें के पास आयें " — अर्थात आँखें किसीके पास हैं तो इन्हीं के पास हैं । यहां आँखों

से तात्पर्य व्यक्ति, समाज और देश की गतिविधियों और चरित्र को देखने-परखने की नजर तो है ही, वह दृष्टि भी है, जिसके जरिए इनके वस्तुनिष्ठ यथार्थ स्वरूप को आत्मसात किया जा सकता है। वैचारिक स्तर पर उठने वाले, विश्व के किसी महान साहित्यकार के साथ तालमेल रखने वाले, उनके साथ किन्हीं मायनों में समानता रखने वाले वे हिन्दी के प्रथम साहित्यकार हैं। मानवीय संवेदना की उनकी पूंजी विश्व के दैदिप्यमान नक्षत्रों में उन्हें विराजित करती है। अतः ऐसे बड़े व्यापक फलक वाले साहित्यकार — कथाकार — उपन्यासकार का अध्ययन बार-बार हो, अलग-अलग कोणों से हो, अलग-अलग दृष्टियों से हो उसे सर्वथा उपयुक्त ही माना जाएगा। यहां प्रेमचन्द के उपन्यासों के पुनर्मूल्यांकन का एक नम्र प्रयास किया गया है।

उपन्यास की तमाम परिभाषाओं पर विचार करने के उपरांत उसकी एक सामान्यीकृत परिभाषा इस रूप में उभरकर आती है कि उपन्यास एक यथार्थवादी विधा है। उसमें सामाजिक या वैयक्तिक या दोनों प्रकार के यथार्थ का अंकन होता है। यह अंकन देशकाल के परिप्रेक्ष्य में एक निश्चित जीवन-दृष्टि को केन्द्र में रखते हुए होता है। उपन्यास और यथार्थ के गहरे सरोकार हैं। ऐतिहासिक और पौराणिक उपन्यासों में भी चमत्कारपूर्ण मिथकों को यथार्थ के धरातल पर तार्किक संगति के साथ प्रस्तुत करना पड़ता है। यद्यपि सभी कलाओं का संबंध मनुष्य और समाज से तो रहता ही है, तथापि उपन्यास और समाज के अंतरंग संबंधों को देखते हुए उसके सांस्कृतिक एवं समाजशास्त्रीय आयामों को विश्लेषित करना भी लाजमी हो जाता है।

प्रेमचन्द से पूर्व सन् 1878 से हिन्दी में उपन्यास का प्रादुर्भाव हो गया था, परन्तु वह अपरिपक्व एवं अविकसित अवस्था में था। औपन्यासिक संरचना का उसमें अभाव-सा प्रतीत होता है। मानव-

चरित्र की सही पहचान वहाँ एक सिरे से गायब है । समस्याओं का सरलीकृत रूप और कथासूत्रों का आधिक्य उन्हें औपन्यासिक यथार्थ से कुछ दूर ले जाती है । ऐतिहासिक उपन्यास भी इतिहास और उपन्यास कम रम्याख्यान अधिक लगते हैं । जासूसी उपन्यास अत्यंत सतही और तिलस्मी उपन्यास वायवी हैं । कुल मिलाकर यही कहा जा सकता है कि इन उपन्यासों का ऐतिहासिक महत्त्व तो है, किन्तु इनका कोई दूरगामी प्रभाव साहित्य पर लक्षित नहीं होता, न ही ये इस कला को अधिक विकसित कर पाते हैं । बाहर तो नहीं, किन्तु भारत में भी, अन्य प्रान्तों में इनको प्रायः अनदेखा किया गया है । क्या यह अत्यंत सूचक नहीं है कि प्रेमचन्द के पूर्व अन्य भाषा-भाषी किसी भी लेखक ने हिन्दी उपन्यासों का अपनी भाषा में अनुवाद नहीं किया या उन्हें उस योग्य नहीं समझा ? वस्तुतः हिन्दी उपन्यास-साहित्य को भारतीय और वैश्विक फलक पर प्रतिष्ठित करने का श्रेय मुंशी प्रेमचन्द को ही जाता है ।

डा. रामविलास शर्मा ने प्रेमचन्द को एक युगनिर्माता साहित्यकार माना है । हिन्दी के आधुनिक काल में कविता के क्षेत्र में जो छायावाद है, कथा-साहित्य के क्षेत्र में वही प्रेमचन्द युग है । अब छायावाद का प्रभाव तो केवल कविता का अभ्यास करने वाले नौसिखिए कवि होने के इच्छुक लोगों तक सीमित है, जबकि प्रेमचन्द-स्कूल के लेखकों की परंपरा तो आज भी बनी हुई है, इतना ही नहीं बल्कि कोई भी लेखक उस स्कूल का होने में स्वयं को गौरवान्वित अनुभव करता है । दूसरे इस तथ्य को विस्मृत नहीं करना चाहिए कि आधुनिक काल में किसी युग का नामकरण तीन साहित्यकारों को लेकर हुआ है — भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी और प्रेमचन्द । भारतेन्दु बाबू का कार्य अत्यन्त श्लाघनीय है, किन्तु वे अतुल संपत्ति के स्वामी थे,

और उनके सामने कोई आर्थिक समस्या नहीं थी । यद्यपि अपनी संपत्ति लुटा देना भी कोई मामूली काम नहीं है, बिरले ही ऐसा कर पाते हैं, तथापि कदम-कदम पर प्रेमचन्द को जो आर्थिक संघर्ष करना पड़ा था, वह वाली विषम स्थिति तो उनकी नहीं ही थी । पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदीजी के पास एक संस्था की शक्ति जुड़ी हुई थी, यद्यपि यहाँ भी हम कह सकते हैं कि अच्छी-खासी सरकारी नौकरी को लात मारकर, कम वेतनवाली साहित्यिक पत्रिका के संपादन की नौकरी, व्यवहारतया घाटे का ही सौदा था । पर यह घाटे का सौदा तो सरस्वतीपुत्र हमेशा करते आये हैं । पर सरस्वतीपुत्र ही, बिरले ही, यह ध्यान रहे ।

परन्तु प्रेमचन्द का काम तो इन दोनों से कठिन इन मायनों में था कि उनके पास न अर्थ की ताकत थी, न संस्था की । दूसरे उनकी लड़ाई थी स्थापित व्यवस्था से । अतः चौतरफा संघर्ष उन्हें करना पड़ा । आर्थिक, सामाजिक, पारिवारिक, साहित्यिक सभी स्तरों के संघर्षों से उन्हें दो-चार होना पड़ा । इस संघर्ष की तापिश ने उन्हें और तपाया, और खरा बनाया और उनकी प्रतिभा को और चमकाया ।

प्रेमचन्द ने एक समूची पीढ़ी को तैयार किया — अपने समय में अपनी प्रेरणा और प्रोत्साहन तथा कृतित्व के द्वारा और अपने समय के बाद अपने त्याग और कृतित्व के द्वारा । विश्वम्भर-नाथ कौशिक, पाण्डेय बेचन शर्मा "उग्र", चतुरसेन शास्त्री, भग-वतीप्रसाद वाजपेयी, ऋषभचरण जैन, जयशंकर प्रसाद, प्रताप-नारायण श्रीवास्तव, राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह, वृन्दावन-लाल वर्मा, सूर्यकान्त त्रिपाठी " निराला ", सियारामशरण गुप्त, गोविन्दवल्लभ पंत, राजेश्वरप्रसाद, धनीराम "प्रेम", प्रफुल्लचन्द्र ओझा, श्रीनाथ सिंह, उषादेवी मित्रा, शिवरानी

देवी , तेजोरानी दीक्षित , चन्द्रशेखर शास्त्री , गंगाप्रसाद श्रीवास्तव , गंगाप्रसाद मिश्र , जैनेन्द्रकुमार , इलाचन्द्र जोशी , भगवतीचरण वर्मा , अज्ञेय , फिराक गोरखपुरी जैसे लेखकों और कवियों को बनाने में उनका जो योगदान है , उसे कोई नकार नहीं सकता । बाद में भी उपेन्द्रनाथ अश्क , अमृतलाल नागर , यशपाल , रेणु , शैलेश मटियानी, हिमांशु श्रीवास्तव , जगदीशचन्द्र , कमलेश्वर , राजेन्द्र यादव , मोहन राकेश , मन्नू भण्डारी , कृष्णा सोबती , कृष्णा अग्निहोत्री , उषा-प्रियंवदा प्रभृति लेखक-लेखिकाएँ प्रेमचन्द के पथ को अनुसरित कर रहे हैं । समकालीन औपन्यासिक परिदृश्य में भी अनगिनत लेखक-लेखिकाएँ प्रेम-चन्द के सामाजिक यथार्थ और उनकी अन्तर्वस्तु से प्रेरित व प्रभावित हो रहे हैं । पूरी एक शताब्दी को प्रभावित करने वाला लेखक असंदिग्धतया महान लेखक की पदवी के योग्य ठहरता है , जो अपने युगबोध को आत्मसात करते हुए भविष्यत घटनाओं का खाका भी खींचता चलता है । ऐसे महान लेखक का अध्ययन बारम्बार हो , अलग-अलग कोणों और दृष्टियों से , विभिन्न साहित्यिक-समाजशास्त्री मानदण्डों से हो , विज्ञान और समाज और विकास के आलोक में हो यह परम आवश्यक हो जाता है । प्रस्तुत अध्ययन ऐसा ही एक नम्र प्रयास है ।

भाषा और साहित्य और कला में शोध और अनुसंधान का का स्वरूप ठीक वहीं वही नहीं होता जो विज्ञान और शास्त्रों में होता है । बुद्धिगत अनुसंधान , तार्किकता , वस्तुनिष्ठता आदि यहाँ भी होते तो हैं ; किन्तु इनके अतिरिक्त सहृदयता , भाव-प्रवणता और अन्तर्वस्तु की दृष्टिभिन्नता जैसे बिन्दु और आयाम भी होते हैं , अतः यह शोध के साथ एक दृष्टि भी है । अतः प्रस्तुत अध्ययन में हमने साहित्य के अध्ययन की अनेकानेक संभावनाओं की ओर दृष्टि-संकेत करते हुए उसकी उपादेयता को उपयुक्त ठहराया है । प्रेमचन्द के औपन्यासिक साहित्य का मूल्यांकन करते हुए या

करने के प्रयत्न में हम कई आयामों को चिह्नित कर सके हैं । इन आयामों में प्रेमचन्द के उपन्यासों की प्रासंगिकता , समकालीन उपन्यास-साहित्य और प्रेमचन्द , शैशवकालीन अनुभवों के परिप्रेक्ष्य में प्रेमचन्द के औपन्यासिक साहित्य का मनोवैज्ञानिक ढंग से विश्लेषण , दलित-विमर्श के संदर्भ में प्रेमचन्द के उपन्यासों का अध्ययन जैसे कुछ मुद्दे रह सके हैं , जिनको प्रस्तुत अध्ययन में आधार बनाया गया है ।

प्रत्येक युग के चिंतनधर्मा प्रगतिधर्मी साहित्यकारों के सम्मुख एक प्रश्न रहा है कि क्या वे केवल सनातन जीवन-मूल्यों , रूप-सौन्दर्य-कला , के प्रश्नों को लेकर सृजन करते रहें या अपने युग की , अपने समय की महती जन-समस्याओं , जीवन-समस्याओं से रूबरू होकर , उनके सामाजिक सरोकारों को अपने लेखन का हिस्सा बनायें ? दूसरे शब्दों में क्या वे केवल कला के पक्षधर हैं या जीवन के ? जीवन के किसी अंग के या जीवन-अंगी के ? स्वल्प के या समग्र के ? संपन्न के या विपन्न के ? आनंद के या दर्द के ? कहना न होगा कि प्रेमचन्द अपने लेखन के प्रारंभिक दौर से ही मानवीय संवेदना के पक्षधर रहे हैं । उनके लेखन के केन्द्र में मनुष्य और केवल मनुष्य रहा है । कुछ लोग ऐसा सोचते हैं कि यदि हम समसामयिक समस्याओं पर ही लिखते रहेंगे तो तत्काल तो हमारी कृतियों को पढ़ा जायेगा , पर उन समस्याओं के न रहने पर क्या होगा ? तब क्या वे अप्रासंगिक नहीं हो जायेंगे ? इस चिन्ता में वे मरे जा रहे हैं , घुले जा रहे हैं ! उन्हें चिन्ता लोगों की नहीं , समाज की नहीं , देश की नहीं , केवल अपनी है । वे भूल जाते हैं कि समग्र विश्व में जीवन एक है , मनुष्य एक है , उनकी मूलभूत वृत्तियाँ एक हैं ; अतः तत्काल का आलेखन करते हुए यदि वे इन मूल अन्तःवृत्तियों की सुलावट करेंगे तो यह समस्या नहीं आयेगी । जीवन का बाह्य-स्वरूप बदलता है , अन्तःवृत्तियाँ एक-सी रहती हैं । वह परतों में रहती हैं , परदों में रहती हैं ,

इन परतों और परदों को हटाने का काम महान साहित्यकार करता है और तब उसे इस प्रकार के सवाल परेशान नहीं करते । सातवें-आठवें दशक के नोबल पुरस्कार विजेता साहित्यकार चेक-कवि यारोस्लाव सेइफर्त के ये शब्द यहाँ अप्रासंगिक नहीं होंगे : " यदि सामान्य मनुष्य ऐसे समय में मौन रहता है तो उसमें उसकी कोई योजना हो सकती है , किन्तु ऐसे समय में यदि लेखक मौन रहता है तो वह झूठ बोल रहा है ।" यहाँ " ऐसे समय " से तात्पर्य यह है कि जिस समय समाज , देश या विश्व मानवीय संकट के बादलों से गहरा रहा हो, मनुष्य के अस्तित्व पर , उसकी अस्मिता पर प्रश्न-चिह्न लग रहे हों, ऐसे समय में लेखक या कवि का धर्म है कि वह मौन न रहे । इधर ऐसी ही संकटकालीन स्थिति पर एक कवि ने कहा था : " ये जमीं बेच देंगे , जहाँ बेच देंगे ; ये मुर्दों के तन का कफन बेच देंगे / कलम के सिपाही अगर चुप रहे तो , वतन के ये नेता वतन बेच देंगे । " अतः असत्य कथन ही झूठ नहीं होता , सत्य के पक्ष में न बोलना , मौन रहना और भी बड़ा झूठ है । और लेखक , महान लेखक , ऐसे झूठ का पक्षधर नहीं हो सकता ।

प्रेमचन्द ने अपने समय को लिखा है , अपने इतिहास को लिखा है और आने वाले युग की पदचाप को भी पहचाना है । ऐसा लोकधर्मी , मानवधर्मी लेखक कभी अप्रासंगिक नहीं हो सकता । प्रेमचन्द के लेखन के केन्द्र में जो मानवीय-संवेदना है उसके कारण प्रेमचन्द की प्रासंगिकता आज भी बनी हुई है । आज भी उनकी दृष्टि अनुकरणीय है । उनका मानवतावादी आदर्श अनुकरणीय है । कबीर की भाँति प्रेमचन्द भी कभी अप्रासंगिक नहीं हो सकते । प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में जिन चतुर्मुखी शोषण के मुद्दों को उठाया है , वे आज भी बरकरार है । आज भी गरीब किसानों और मजदूरों का शोषण हो रहा है । अमीर अधिक अमीर और गरीब अधिक गरीब हो रहा है । वैश्विक स्थितियों के कारण विकास दिख रहा है , पर गरीबी का भी

विकास (?) हो रहा है । नारी-शिक्षा का कुछ प्रचार-प्रसार हुआ है, गांवों और कस्बों में भी स्कूल-कालेज खुल गये हैं, पर क्या गांव की गरीब-पिछड़ी जनता तक उसकी पहुंच है ? और पिछले कुछ वर्षों में तो इस दिशा में भी पीछे-कदम हो रहा है । फिर से उस अंधेरयुग की स्थितियों के निर्माण में कुछ राजनीतिक शक्तियां सक्रिय हो गयी हैं । नारी-शोषण का चक्र अभी भी गतिशील है । दहेज की विभीषिका अब पिछड़ों में भी प्रविष्ट हो रही है । दहेज का आंकड़ा अब आकाश को छूने लगा है । दहेज हत्याएं बढ़ रही हैं । नारी का आर्थिक शोषण बढ़ रहा है । दैहिक शोषण बढ़ रहा है । नौकरीयाफ्ता नारियों को दोहरा बोझ ढोना पड़ता है । सती-प्रथा को महिमामंडित किया जा रहा है । शिशु-विवाह अभी भी हो रहे हैं । विरोध करनेवाली भावरीबाइयां भंवरों में फंसी हुई हैं । आज भी गांवों में पिछड़ी जातियों की स्त्रियों के साथ अपमानजनक व्यवहार हो रहा है । स्त्रियां बलात्कृत हो रही हैं । दलितों का दमन और दलन हो रहा है । जातिवाद बढ़ रहा है । हिन्दू-मुस्लिम विद्वेष और भी भड़क गया है । अब वह गांव-खेड़ों तक पहुंच गया है । अंध-विश्वास और रूढ़ियां भारतीय समाज पर पुनः हावी हो रही हैं । सर्वधर्म समभाव हट रहा है । दलितों के प्रति अस्पृश्यता-भाव अब मानसिक रूप धारण कर रहा है । देश का शोषण आज भी जारी है । पहले अंग्रेज करते थे अब राजनेता करते हैं । शहीदों के कोफिन तक में से कमीशन खाया जा रहा है । टाइम्स आफ इण्डिया के "थौट फोर टुडे " में लिखा जा रहा है — " सेना खून बहाती है, सरकार कमीशन खाती है ।" (टाइम्स आफ इण्डिया — दिनांक 13-12-2001) कहां क्या बदला है ? अतः प्रेमचन्द आज भी उतने ही प्रासंगिक हैं, जितने कभी अपने समय में थे, बल्कि उससे भी ज्यादा । मेरे निर्देशक महोदय की एक कविता का शीर्षक है : " तुलसी तेरी आज भी जरूरत है । ", उसे थोड़ा परिवर्तित करके मैं

कहना चाहूँगा : " प्रेमचन्द तेरी आज भी जरूरत है " ।

किसी बड़े लेखक का मूल्यांकन इस रूप में भी किया जाना चाहिए कि उसकी पुकार कहाँ तक पहुँचती है , किस हद तक वह अन्य लेखकों को प्रभावित करता है , कब तक वह उनका नेतृत्व करता है , कब तक वह दूसरों की कलमों में जीवित और पुनर्जीवित होता रहता है । अतः समकालीन औपन्यासिक लेखन के संदर्भ में प्रेमचन्द को देखने का एक प्रयास भी इस अध्ययन में हुआ है । प्रेमचन्द के उपर्युक्त सामाजिक-मानवीय सरोकार किस तरह समकालीन लेखकों को भी मथ रहे हैं , इसे उकेरने का एक नम्र प्रयास यहाँ हुआ है ।

समाजवादी-यथार्थवादी प्रवृत्ति , अपने समाज और समय को देखने की दूरदर्शी दृष्टि , नारी-अभिगम , दलित-अभिगम , हिन्दू-मुस्लिम एकता की हिमायत और उसके विद्वेष का विरोध ये तमाम प्रगतिशील मुद्दे जो प्रेमचन्द के लेखन में उभरकर आये हैं ; उनका विकास या चित्रण हमें डा. राही मासूम रजा , जगदीशचन्द्र , डा. रामदरश मिश्र , डा. शिवप्रसादसिंह , कृष्णा सोबती , कृष्णा अग्निहोत्री , उषा प्रियंवदा , मन्नू भंडारी , शीला रोहेकर , कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव , मोहनदास नैमिशराय , ओमप्रकाश वाल्मिक , निरुपमा सेवती , शशिप्रभा शास्त्री , मैत्रेयी पुष्पा , प्रभा खेतान, मंजूर-एहतेशाम , अब्दुल बिस्मिल्लाह आदि समकालीन औपन्यासिक लेखकों में उपलब्ध होता है । प्रेमचन्द एक युगान्तकारी लेखक हैं । ऐसे लेखक की दृष्टि वस्तुनिष्ठ होती है , अतः वह अपनी परंपरा के प्रगतिगामी तत्वों को संजोता हुआ , अपने समय और इतिहास की समग्रता को आत्मसात करता हुआ , आनेवाले समय की आहट को भी पहचान लेता है । प्रेमचन्द में यह हुआ है , ऐसा हम कह सकते हैं , क्योंकि इधर के समकालीन लेखकों में उनके प्रगतिशील मुद्दों की गूंज-अनुगूंज दृष्टिगोचर हो रही है । ध्रुवतारक की भांति आज भी

वे साहित्य-जगत की दशा-दिशा निर्धारित करने में पूर्णरूपेण सक्षम हैं ।

शैशवकालीन अनुभवों और संघर्षों का एक लेखक के जीवनमें सर्वोपरि महत्त्व होता है । अतः उसके परिप्रेक्ष्य में भी उसके लिखे हुए को जांचा-परखा जा सकता है । प्रेमचन्द के दादा गुरुसहाय लाल ने पटवारगिरी में काफी संपत्ति अर्जित की थी और तब उनके यहां जाहोजलाली थी , किन्तु उनके भतीजे हरनारायनलाल ने धोखाधड़ी से प्रेमचन्द के ताऊ महावीरलाल से साठ बीघा जमीन हड़प ली ।अतः उनका परिवार पुनः आर्थिक तंगदस्ती की स्थिति में आ गया । प्रेम-चन्दजी के पिता मुंशी अजायबलाल पर अपने भाइयों के घर-परिवार का उत्तरदायित्व था , अतः वे हमेशा आर्थिक दृष्टया तंग स्थिति में रहे । आठ साल की कच्ची उम्र में उनकी माता का निधन हो गया । घर में सौतेली मां आयी । उनकी सलाह से ही प्रेमचन्द का ब्याह एक उम्र में बड़ी , कुरूप , बेवकूफ , अफीमची औरत से कर दिया गया । उसके एक-डेढ़ साल बाद उनके पिता भी स्वर्ग सिधार गये । सत्रह साल की उम्र में प्रेमचन्द पर सौतेली मां , सौतेले भाई , बहनों आदि सभी का बोझ आ गया : अतः उनको शैशवकाल से ही आर्थिक-पारिवारिक संघर्षों से गुजरना पड़ा । आर्थिक अभाव , दरिद्रता , जीवन-संघर्ष , मां के प्यार की तड़प , सौतेली मां के त्रास , अनमेल-विवाह की त्रासद स्थितियाँ , असुरक्षा की भावना आदि से अभिशप्त मुंशी प्रेमचन्द का बचपन दर्द और सदमों से भरा हुआ है । इनके इस अभिशप्त शैशव की विभीषिकाएँ , उनका मूक रुदन और सिसकियाँ हमें उनके "वरदान" से लेकर "गोदान" तक के सभी उपन्यासों में दृष्टिगोचर और श्रुतिगोचर होते हैं ।

एक बड़ा लेखक , एक महान लेखक , एक युग-प्रवर्तक लेखक हमेशा उत्पीड़ित मानवता का पक्षधर होता है । यदि लेखक स्वयं

दलित या पीड़ित न भी रहा हो , तो भी उसे दलितों-पीड़ितों का पक्षधर होना चाहिए । यही उसका वाल्मीकि-धर्म है , यही उसका बुद्धवाहनी-धर्म है । न्याय और विवेक के दो ध्रुवों के बीच उसके लेखन की जमीन होनी चाहिए । इस दृष्टि से देखें तो प्रेम-चंद में प्रारंभ से ही ये मुद्दे हमें मिलते हैं । "देवस्थान-रहस्य" , "प्रेमा" , "वरदान" , "सेवासदन" आदि उपन्यासों में दलित-विमर्श की भूमिका दृष्टिगत होती है ; तो "प्रेमाश्रम" , "रंगभूमि" , कर्मभूमि" , "गोदान" जैसे उपन्यासों में हमें प्रेमचन्द के दलित-विमर्श के विभिन्न आयाम और विकास दृष्टिगोचर होता है । "कर्मभूमि" उपन्यास के तो केन्द्र में ही अछूत-समस्या है । ग्रामीण एवं शहरी धरातलों पर दलित-परिस्थितियों को यहां उन्होंने समेकित किया है । अछूत समस्या का एक पक्ष जो उन्हें सर्वाधिक पीड़ित करता है वह है उनसे लिया जानेवाला बेगार । किसी लिहाज से यहां उन्हें कोई औचित्य नजर नहीं आता है । अतः अपने सभी उपन्यासों में वे इसका पूरी शक्ति के साथ विरोध करते हैं । बेगार प्रथा में अछूत तबकों के आर्थिक शोषण की सामंती मनोवृत्ति का मूर्तिमंत स्वरूप दृष्टिगत होता है । एक मानवीय अधिकार के रूप में मंदिर-प्रवेश की समस्या को वे उठाते हैं , किन्तु उन्हें हमेशा इस बात का अहसास रहता है कि आर्थिक प्रश्नों को हल किये बिना , उन्हें पूरी मानवीय गरिमा के साथ जीवन-यापन के अवसर प्रदान किये बिना , अछूत-समस्या के निवारण की बात कोरी बौद्धिक लीपा-पोती होगी । अतः शहरों में वे इन गरीब मेहनतकश दलित तबकों के रिहायिश की समस्या पर अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं । "गोदान" में वे दलित-विमर्श को वर्ग-संघर्ष की स्थिति तक ले गये हैं ।

इस प्रकार प्रस्तुत प्रबंध में प्रेमचन्द के औपन्यासिक को नाना आयामों और कोणों से देखने परखने का प्रयत्न किया गया

है । अभी और भी आयाम , और भी दृष्टिबिन्दु हो सकते हैं । एक बड़े लेखक का अध्ययन किसी भी दृष्टि से किया जाय , कुछ तो अन-चिन्हा , अनछुआ रह ही जाता है । मुंशीजी के अलग-अलग जीवन-संबंधों को लेकर , उनकी जीवनियों और पत्रों के ~~सन्दर्भ~~xxxx सन्दर्भ में , उनके समकालीनों से पत्राचार के सन्दर्भ में , ~~तत्कालीन~~ तत्कालीन समय और इतिहास के संदर्भ में , प्रेमचन्द के समकालीन अन्य प्रान्तीय लेखकों के लेखन के संदर्भ में , शिल्प और भाषिक-संरचना के सन्दर्भ में , कथा-नारियों के संदर्भ में ; गरज कि कई ऐसे पथ और आयाम हैं जिन पर अभी विचार-विमर्श की गुंजाइश है ।

शोध-अनुसंधान और समीक्षा के रास्ते पर यह मेरा प्रथम ~~प्रथम~~xx चरण है । अपनी सीमाओं और मर्यादाओं से मैं भलीभांति अवगत हूँ । अतः अन्ततः प्रार्थित हूँ मैं कि मेरा यह प्रयास यदि भविष्यत अनुसंधित्सुओं तथा प्रेमचन्द के अध्येताओं के अल्पातिअल्प परिमाण में भी काम आ सका तो अपने सारस्वत श्रम को मैं सार्थक समझूंगा ।

—: इति शुभम :—